International Research Journal of Human Resources and Social Sciences
Vol. 4, Issue 1, January 2017 Impact Factor- 5.414
ISSN(O): (2349-4085) ISSN(P): (2394-4218)
© Associated Asia Research Foundation (AARF) Publication
Website: www.aarf.asia Email : editor@aarf.asia , editoraarf@gmail.com

विषयः वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय शिक्षा की उपादेयता

[1] डॉ. (श्रीमती) शारदा अग्रवाल,
एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्षा,
इतिहास विभाग, डी.वी.सी., उरई

[2] शिवम्, शोधार्थी, इतिहास विभाग, बुन्देलखण्ड़ विश्वविद्यालय, झाँसी

प्रस्तावना

प्राचीन काल में भारत में शिक्षा का अर्थ वेद–मंत्रों के उच्चारण की विधि थी, जो व्यक्ति की पूर्व अवस्था 25 वर्ष के समय तक लागू थी, जिसे ब्रह्मचर्य आश्रम का नाम दिया था। शिष्य का उपनयन संस्कार करने के बाद वह गुरुगृह में रहता था। शिष्य को आश्रम के नियमों का पालने कठोरता से करना पड़ता था। विद्यार्थी को शिक्षा के लिए गुरू की शरण में जाना पड़ता था। जहां वह गुरु के परिवार के साथ अंतेवासिन यानी एक सदस्य के रूप मे रहता था और गुरु की शरण में जाना पड़ता था। जहां वह गुरु के परिवार के साथ अंतेवासिन यानी एक सदस्य के रूप में रहता था और गुरु ही निजी देखरेख में उसकी बौद्धिक क्षमताओं को विकसित करता था। ''शिक्षा का एक स्वरूप व्यक्ति की छिपी हुई क्षमताओं का विकास करके उसके संपूर्ण व्यक्तित्व को आकार देना था, जिससे कि उसे जीवन की पूर्णता की उपलब्धि हो सके।''

शिक्षा प्राप्ति के लिए तीन सरल प्रक्रियाएं थीं–श्रावण, मनन, निदिध्यासन। श्रावण में मूल रूप से गुरु से ज्ञान को मौखिकी रूप से था। यही कारण है कि 'ज्ञान को श्रुति 'यानि सुना जाए' कहा गया है। उस समय पठन की परंपरा नहीं थी। मनन का अर्थ था, ज्ञान को समझने और आत्मसात करने के लिए उस पर विचार करना। निध्यासन यानि ज्ञान का संपूर्ण बोध, जिससे कि उसे जिया जा सके। ज्ञान की इसी उपलब्धि का नाम शिक्षा था।

प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति में हमें अनौपचारिक तथा औपचारिक दोनों प्रकार के शैक्षणिक केन्द्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। औपचारिक शिक्षा मन्दिर, आश्रमों और गुरुकुलों के माध्यम से दी जाती थी। ये ही उच्च शिक्षा के केन्द्र भी थे। जबकि परिवार, पुरोहित, पण्डित, सन्यासी और त्यौहार प्रसंग आदि के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त होती थी। विभिन्न धर्मसूत्रों में इस बात का उल्लेख है कि माता ही बच्चे की श्रेष्ठ गुरु है। कुछ विद्वानों ने पिता को बच्चे के शिक्षक के रुप में स्वीकार किया है। जैसे–जैसे सामाजिक विकास हुआ वैसे–वैसे शैक्षणिक संस्थाएं स्थापित होने लगी। वैदिक काल में परिषद, शाखा और चरण जैसे संघों का स्थापन हो गया था, लेकिन व्यवस्थित शिक्षण संस्थाएं सार्वजनिक स्तर पर बौद्धों द्वारा प्रारम्भ की गई थी।

गुरुकुलों की स्थापना प्रायः वनों, उपवनों तथा ग्रामों या नगरों में की जाती थी। वनों में गुरुकुल बहुत कम होते थे। अधिकतर दार्शनिक आचार्य निर्जन वनों में निवास, अध्ययन तथा चिन्तन पसन्द करते थे। वाल्मीकि, सन्दीपनि, कण्व आदि ऋषियों के आश्रम वनों में ही स्थित थे और इनके यहाँ दर्शन शास्त्रों के साथ–साथ व्याकरण, ज्योतिष तथा नागरिक शास्त्र भी पढ़ाये जाते थे। अधिकांश गुरुकुल गांवों या नगरों के समीप किसी वाग अथवा वाटिला में बनाये जाते थे। जिससे उन्हें एकान्त एवं पवित्र वातावरण प्राप्त हो सके। इससे दो लाभ थे एक तो गृहस्थ आचार्यों को सामग्री एकत्रित करने में सुविधा थी, दूसरे ब्रह्मचारियों को भिक्षा अर्जन हेतु अधिक भटकना नहीं पड़ता था। मनु के अनुसार ब्रह्मचारों को गुरु के कुल में, अपनी जाति वालों में तथा कुल बान्धवों के यहां से भिक्षा याचना नहीं करनी चाहिए, यदि भिक्षा योग्य दूसरा घर नहीं मिले, तो पूर्व–पूर्व गृहों का त्याग करके भिक्षा याचना करनी चाहिये। इससे स्पष्ट होता है कि गुरुकुल गांवों के सन्निकट ही होते थे। स्वजातियों से भिक्षा याचना करने में उनके पक्षपात तथा ब्रह्मचारी के गृह की ओर आकर्षण का भय भी रहता था अतएव स्वजातियों से भिक्षा–याचना का पूर्ण निषेध कर दिया गया था। बहुधा राजा तथा सामन्तों का प्रोत्साहन पाकर विद्वान् पण्डित उनकी सभाओं की ओर आकर्षित होते थे और अधिकतर उनकी राजधानी में ही बस जाते थे, जिससे वे नगर शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। इनमें तक्षशिला, पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज, मिथिला, धारा, तंजोर आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार तीर्थ स्थानों की ओर भी विद्वान् आकृष्ट होते थे। फलतः काशी, कर्नाटक, नासिक आदि शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र बन गये। कभी–कभी राजा भी अनेक विद्वानों को आमंत्रित करके दान में भूमि आदि देकर तथा जीविका निश्चित करके उन्हें बसा लेते थे। उनके बसने से वहां एक नया गांव बन जाता था। इन गांवों को 'अग्रहार' कहते थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों एवं मठों के आचार्यों के प्रभाव से ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग मठ शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये। इनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि के मठ प्रसिद्ध हैं। सार्वजनिक शिक्षण संस्थाएँ सर्वप्रथम बौद्ध विहारों में स्थापित हुई थीं। भगवान बुद्ध ने उपासकों की शिक्षा–दीक्षा पर अत्यधिक बल दिया। इस संस्थाओं में धार्मिक ग्रन्थों का अध्यापन एवं आध्यात्मिक अभ्यास कराया जाता था। अशोक (300 ई. पू.) ने बौद्ध विहारों की विशेष उन्नति करायी। कुछ समय पश्चात् ये विद्या के महान केन्द्र बन गये। ये वस्तुतः गुरुकुलों के ही समान थे। किन्तु इनमें गुरु किसी एक कुल का प्रतिनिधि न होकर सारे विहार का ही प्रधान होता था। ये धर्म प्रचार की दृष्टि से जनसाधारण के लिए भी सुलभ थे। इनमें नालन्दा विश्वविद्यालय, वल्लभी, विक्रमशिला प्रमुख शिक्षण संस्थाएँ थीं। इन संस्थाओं का अनुसरण करके हिन्दुओं ने भी मन्दिरों में विद्यालय खोले जो आगे चल कर मठों के रूप में परिवर्तित हो गये।

भारत की प्राचीन शिक्षा आध्यात्मिमकता पर आधारित थी। शिक्षा, मुक्ति एवं आत्मबोध के साधन के रूप में थी। यह व्यक्ति के लिये नहीं बल्कि धर्म के लिये थी। भारत की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक परम्परा विश्व इतिहास में प्राचीनतम है। वैदिक युग से लेकर अब तक भारतवासियों के लिये शिक्षा का अभिप्राय यह रहा है कि शिक्षा प्रकाश का स्रोत है तथा जीवन के विभिन्न कार्यों में यह हमारा मार्ग आलोकित करती है।

प्राचीन काल में शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया गया था। भारत 'विश्वगुरु' कहलाता था। विभिन्न विद्वानों ने शिक्षा को प्रकाशस्रोत, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्ज्योति, ज्ञानचक्षु और तीसरा नेत्र आदि उपमाओं से विभूषित किया है। उस युग की यह मान्यता थी कि जिस प्रकार अन्धकार को दूर करने का साधन प्रकाश है, उसी परकार व्यक्ति के सब संशयों और भ्रमों को दूर करने का साधन शिक्षा है। प्राचीन काल में इस बात पर बल दिया गया कि शिक्षा व्यक्ति को जीवन का यथार्थ दर्शन कराती है।

तथा इस योग्य बनाती है कि वह भवसागर की बाधाओं को पार करके अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर सके जो कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा स्वरूप

प्राचीन भारत की शिक्षा का प्रारंभिक स्वरूप हम ऋग्वेद में देखते हैं। ऋग्वेद युग की शिक्षा का उद्देश्य था तत्वसाक्षात्कार। ब्रह्मचर्य, तप और योगाभ्यास से तत्व का साक्षात्कार करने वाले ऋषि, विप्र, वैघस, कवि, मुनि, मनीषी के नामों से प्रसिद्ध थे। साक्षात्कृत तत्वों का मंत्रों के आकार में संग्रह होता गया वैदिक संहिताओं में, जिनका स्वाध्याय, सांगोपांग अध्ययन, श्रवण, मनन औरनिदिध्यासन वैदिक शिक्षा रही।

विद्यालय 'गुरुकुल', 'आचार्यकुल', 'गुरुगृह' इत्यादि नामों से विदित थे। आचार्य के कुल में निवास करता हुआ, गुरुसेवा और ब्रह्मचर्य व्रतधारी विद्यार्थी षडंग वेद का अध्ययन करता था। शिक्षक को 'आचार्य' और 'गुरु' कहा जाता था और विद्यार्थी को ब्रह्मचारी, व्रतधारी, अंतेवासी, आचार्यकुलवासी। मंत्रों के द्रष्टा अर्थात साक्षात्कार करनेवाले ऋषि अपनी अनुभूति और उसकी व्याख्या और प्रयोग को ब्रह्मचारी, अंतेवासी को देते थे। गुरु के उपदेश पर चलते हुए वेदग्रहण करनेवाले व्रतचारी श्रुतर्षि होते थे। वेदमंत्र कंठस्थ किए जाते थे। आचार्य स्वर से मंत्रों का परायण करते और ब्रह्मचारी उनको उसी प्रकार दोहराते चले जाते थे। इसके पश्चात अर्थबोध कराया जाता था। ब्रह्मचर्य चले जाते थे। इसके पश्चात अर्थबोध कराया जाता था। ब्रह्मचर्य का पालन सभी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य था। स्त्रियों के लिए भी आवश्यक समझा जाता था। आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले विद्यार्थी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते थे। ऐसी विद्यार्थिनी ब्रह्मवादिनी कही जाती थी।

यज्ञों का अनुष्ठान विधि से हो, इसलिए होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा को आवश्यक शिक्षा दी जाती थी। वेद, शिक्षा, कल्प, व्यकरण, छंद, ज्योतिष और निरुक्त उनके पाठ्य होते थे। पाँच वर्ष के बालक की प्राथमिक शिक्षा आरंभ कर दी जाती थी। गुरुगृह में रहकर गुरुकुल की शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता उपनयन संस्कार से प्राप्त होती थी। 8 वें वर्ष में ब्राह्मण बालक के, 11 वें वर्ष में क्षत्रिय के और 12 वें वर्ष में वैश्य के उपनयन की विधि थी। अधिक से अधिक यह 16, 22 और 24 वर्षों की अवस्था में होता था। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्यार्थी गुरुगृह में 12 वर्ष वेदाध्ययन करते थे। तब वे स्नातक कहलाते थे। समावर्तन के अवसर पर गुरुदक्षिणा देन की प्रथा थी। समावर्तन के पश्चात भी स्नातक स्वाध्याय करते रहते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचारी आजीवन अध्ययन करते थे। समावर्तन के सम ब्रह्मचारी दंड, कमंडलु, मेखला, आदि को त्याग देते थे। ब्रह्मचर्य व्रत में जिन जिन वस्तुओं का निषेध था अब से उनका उपयोग हो सकता था। प्राचीन भारत में किसी प्रकार की परीक्षा नहीं होती थी और न कोई उपाधि ही दी जाती थी। नित्य पाठ पढ़ाने के पूर्व ब्रह्मचारी ने पढ़ाए हुए षष्ठ को समझा है और उसका अभ्यास नियम से किया है या नहीं, इसका पता आचार्य लगा लेते थे। ब्रह्मचारी अध्ययन और अनुसंधान में सदा लगे रहते थे तथा बाद विवाद और शास्त्रार्थ में संम्मिलित होकर अपनी योग्यता का प्रमाण देते थे।

भारतीय शिक्षा में आचार्य का स्थान बड़ा ही गौरव का था। उनका बड़ा आदर और सम्मान होता था। आचार्य पारंगत विद्वान, सदाचारी, क्रियावान, निःस्पृह, निरभिमान होते थे और विद्यार्थियों के कल्याण के लिए सदा कटिबद्ध रहते थे। अध्यापक, छात्रों का चरित्रनिर्माण, उनके लिए भोजनवस्त्र का प्रबंध, रुग्ण छात्रों की चिकित्सा, शुश्रूषा करते थे। कुल में सम्मिलित ब्रह्मचारी मात्र को आचार्य अपने परिवार का अंग मानते थे और उनसे वैसा ही व्यवहार रखते थे। आचार्य धर्मबुद्धि से निःशुल्क शिक्षा देते थे।

विद्यार्थी गुरु का सम्मान और उनकी आज्ञा का पालन करते थे। आचार्य का चरणस्पर्श कर दिनचर्या के लिए प्रातःकाल ही प्रस्तुत हो जाते थे। गुरु के आसन के नीचे आसन ग्रहण करा, सुसंयत वेश में रहना, गुरु के लिए दातौन इत्यादि की व्यवस्था करना, उनके आसन को उठाना और बिछाना, स्नान के लिए जल ला देना, समय पर वस्त्र और भोजन के पात्र को साफ करना, ईधंन संग्रह करना, पशुओं को चराना इत्यादि छात्रों के कर्तव्य माने जाते थे। विद्यार्थी ब्राह्ममुहूर्त में उठते थे और प्रातः कृत्यों से निवृत्त होकर, स्नान, संध्या, होम आदि कर लेते थे। फिर अध्ययन में लग जाते थे। इसके उपरांत भोजन करते थे और विश्राम के पश्चात आचार्य के पाठ ग्रहण करते थे। सांयकाल समिधा एकत्र कर ब्रह्मचारी संध्या ओर होम का अनुष्ठान करते थे। विद्यार्थी के लिए भिक्षाटन अनिवार्य कृत्य था। भिक्षा से प्राप्त अन्न गुरु को समर्पित कर विद्यार्थी मनन और निदिध्यासन में लग जाते थे।

वेदों का अध्ययन श्रावण पूर्णिमा को उपाकर्म से प्रारंभ होकर पौष पूर्णिमा को उपसर्जन से समाप्त होता था। शेष महीनों में अधीत पाठों की आवृत्ति, पुनरावृत्ति होती रहती थी। विद्यार्थी पृथक–पृथक पाठ ग्रहण करते थे, एक साथ नहीं। प्रतिपदा और अष्टमी को अनध्याय होता था। गाँव, नगर अथवा पड़ोस मे आकस्मिक विपत्ति से और शिष्टजनों के आगमन से विशेष अनध्याय होते थे। अनध्याय में अधीत वेदमंत्रों की पुनरावृत्ति और विषयांतर का अध्ययन निषिद्ध न थे। विनय के नियमों का उल्लंघन करनेवाले विद्यार्थी को दंड देने की परिपाटी थी। पाठ्यक्रम के विस्तार के साथ वेदों ओर वेदांगों के अतिरिक्त साहित्य, दर्शन, ज्योतिष, व्याकरण और चिकित्साशास्त्र इत्यादि विषयों का अध्यापन होने लगा। टोल पाठशाला, मठ ओर विहारों में पढ़ाई होती थी।

शोध उद्देश्य

प्रस्तुत शोध के उद्देश्य निम्न प्रकार हैः

1. भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली, शिक्षा के स्वरूप, शिक्षा के प्रसार इत्यादि तथ्यों का अध्ययन करना।
2. भारत के प्रमुख प्राचीन शिक्षा केन्द्रों या विश्वविद्यालयों का वैज्ञानिक और सांस्कृतिक जीवन के विकास में योगदान का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना।
3. भारतीय प्राचीन शिक्षा पर अन्य देशों की संस्कृतियों के प्रभावों का विश्लेषण करना।

साहित्य पुनरावलोकन

किसी भी विषय पर शोध करने से पूर्व उस विषय से सम्बन्धित साहित्यिक पुनरावलोकन अति आवश्यक होता है। किसी भी क्षेत्र का साहित्य उस आधारशिला के समान होता है, जिस पर सपूंर्ण भावी शोध आधारित होता है यदि सबंधित साहित्य के सर्वेक्षण द्वारा इस नींव को दृढ़ नहीं कर लेते तो यह शोध कार्य के प्रभावहीन एवं महत्वहीन होने की सम्भावना होती है अथवा उसकी पुनरावृति भी हो सकती है।

हार्न महोदय के अनुसार – ''शिक्षा एक चिरन्तन प्रक्रिया है, जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से विकसित, स्वतन्त्र एवं चेतनाभूत मानव को ईश्वर के प्रति उच्च अनुकूलन कराती है, जिसकी अभिव्यक्ति मानव के बौद्धिक, संवेगात्मक और संकल्पित वातावरण में होती है।''

रेमण्ट के अनुसार – ''शिक्षा विकास का वह क्रम है जिससे मनुष्य अपने को शैशवावस्था' से परिपक्वावस्था तक आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है।''

महात्मा गाँधी के अनुसार – ''शिक्षा से मेरा अभिप्राय उन सर्वश्रेष्ठ गुणों का प्रगटीकरण है जो बालक और मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में विद्यमान है।''

शोध विधि

प्रस्तावित शोध को मौलिक स्त्रोतों पर आधारित करने का प्रयास किया गया ह। जिसके अन्तर्गत ताम्र पत्रों, प्रशस्ति पत्रों, शिलालेखों, सिक्कों, धार्मिक एवं ऐतिहासिक साहित्यों, यात्रा वृत्तान्तों, जीवनियों आदि का अध्ययन किया गया है। साथ ही साथ गौण स्त्रोतों से भी जानकारी प्राप्त की गयी है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में प्राचीन भारतीय शिक्षा, का मुख्य उद्देश्य दो पैर वाले प्राणी को मनुष्य बनाना था। यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू के और सभी मानवीय क्रियाकलापों को धर्म से जोड़ दिया गया था। यही कारण था कि अध्यात्म की विद्या सभी विद्याओं में श्रेष्ठ मान ली गई थी। अभ्यास से ज्ञान को, ज्ञान से ध्यान को और ध्यान से कर्म फलों के त्याग को श्रेष्ठ बताया गया था क्योंकि इससे तत्काल शांति की प्राप्ति होती थी।

शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकसित करना था। यह भी सच है कि वर्तमान युग में विकास की जो भौतिकवादी अवधारणा प्राप्त होती है, उससे विकास की प्राचीन अवधारणा बिल्कुल अलग थी। परम सत्ता के ज्ञान की प्रखरता व्यक्तित्व की विकास की महत्वपूर्ण कसोटी मानी जाती थी। सांस्कृतिक धरोहर का संरक्षण, संस्कृति का प्रचार और प्रसार, शिक्षा के उद्देश्यों में सम्मिलित थे। शिक्षा का संबंध सदाचार से घनिष्ठ रूप से जोड़ा गया था। यदि कोई व्यक्ति कितना ही बड़ा क्यों न हो जब तक वह शीलहीन रहता, तब तक उसे समाज में आदर प्राप्त नहीं होता था। सभी वेदों का अध्ययन करने वाला व्यक्ति भी यदि शीलविहीन होता तो उसे यश की प्राप्ति नहीं होती। यह भी कहा गया है कि यदि कोई ब्राहण अपने ज्ञान का अभिमान करता है, व्यर्थ के तर्क का आश्रय लेता है, तर्क विद्या में अधिक रूचि लेता है, सज्जनों की सभा में तर्क की व्यर्थ बातें करके विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और शास्त्र के अनुकूल युक्रियां प्रतिपादित नहीं करता तो वह दान का अधिकारी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति स्वयं को स्वाध्यायी ओर पंडित मानता है तथा दुसरे का यश अपहरण करने का प्रयत्न करता है तो उसे ब्रम्हहत्या का अपराधी माना गया है। विद्या का प्रयोग शास्त्र विधि के साथ में किया जाना आवश्यक बताया गया था क्योंकि शास्त्रों की विधि को उपेक्षित करके कर्म करने वाले को न तो सिद्धि प्राप्त होती थी ओर न सुख। शिक्षा के उद्देश्यों में यह सम्मिलित था कि प्रमाण किसे माना जाए– इसका निर्धारण करना। जब कर्त्तवय और अकर्त्तव्य की अवस्था आ जाए तो शास्त्रों को प्रमाण माना जाता था। यहीं नहीं जब धर्म या शिष्टाचार के संबंध में कोई शंका उत्पन्न हो जाए तो विद्धान ब्राम्हणों के कर्मो को अनुकरणीय माना गया था। स्वभाव की सादगी शिक्षा का आवश्यक उद्देश्य बताया गया था। महाभारत में कहा गया कि सरलता की उपासना ब्रम्ह पद की प्राप्ति है। कुटिल्ता की मृत्यु का पद है। यही ज्ञान का सार है प्राचीन भारत के शिक्षा के उद्देश्यों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गोखले, बी.जी. – प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति, वम्बई 1957
2. अल्टेकर, ए.एस. – एजुकेशन एन एन्शियन्ट इडिया, वाराणसी, 1975
3. आप्टे, डी.जी. – यूनीवर्सीटीज इन एनशियन्ट इण्डिया, बडौदा
4. अग्निहोत्र, प्रमुदयाल – पतंजलिकालीन भारत, पटना, वि.स. 2019
5. चौवे, सरयूप्रसाद – भारतीय शिक्षा का इतिहास, इलाहाबाद , 1959
6. दत्त, सुकुमार – बुद्धिस्ट मोन्क एण्ड मोनास्ट्रिज ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 1988
7. बोस, पी. एल. – इण्डिन टीचर्स ऑफ द बुद्विस्ट यूनीवर्सिटीज, मद्रास, 1923
8. बाशम, ए.एल. – दइ कल्चर्ल हिस्ट्री आफ इण्डिया, आक्सफोर्ड , 1965
9. घोष, अमलानन्द – नालन्दा, दिल्ली, 1963
10. घोष, एस.सी. – द हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन एन्शियन्ट इण्डिया, 3000ई. पू.–1192 ई. नई दिल्ली, 2001
11. मार्शल, जॉन – ए गाइड टू तक्षशिला, कैब्रिज, 1966
12. पिग्गट, स्टुअर्ट – सम एन्शियन्ट सिटीज ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड,1945
13. राय, उदयनारायण – प्राचीन भारत के नगर तथा नागरिक जीवन, इलाहाबाद, 1965
14. त्यागी, अनिल – एजुकेशनल इन्टीट्यूट इन एन्शियन्ट इण्डिया, नई दिल्ली, 2001
15. दीघनिकाय : अनुवादक, राहुल सांस्कृत्यापन, भिक्षु जगदीश कश्यप, सारनाथ, वाराण्सी, 1936।